

गुप्तजी और उनका द्वापर : नारी-भाव

डॉ. आर.पी. वर्मा,

एसो. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय गोसाईंखेड़ा
जनपद-उन्नाव, उ.प्र.

गुप्तजी के अन्तस्तल में नारी-जाति के प्रति अगाध करुणा का असीम सागर लहरा रहा है। करुणा का अजस्त्र स्रोत सहृदय रसिकों के अन्तर-बाह्य को रस स्निग्ध करता हुआ उनके सभी काव्यों में कल-कल निनाद करता हुआ प्रवाहित हो रहा है।

कहना तो यह चाहिए कि उपेक्षिता नारियों की भावनाओं को वाणी देने के लिए ही राष्ट्रकवि के यशस्वी काव्यों की रचना हुई है। यह तो सर्वविदित है कि उनका अमर महाकाव्य साकेत उर्मिला की भावनाओं को साकार रूप प्रदान करने के लिए ही निर्मित हुआ है। सीता को सभी लोग जानते, पहचानते और मानते हैं, पर उर्मिला तप, त्याग और सतीत्व व पातिव्रत्य आदि सभी दृष्टियों से सीता के समकक्ष होकर भी कवियों द्वारा चिर उपेक्षित ही रही। उर्मिला का पति लक्ष्मण जब अपने भाई और भाभी की सेवा के लिए चौदह वर्ष की लम्बी अवधि के लिए उससे किनारा कर गया, तब उस बेचारी के दिन कैसे कटे होंगे ? यह तो वह जानती है, किन्तु एक विरह विधुरा नारी हृदय की अन्तर वेदन को समझने में सहृदय कवि को कुछ देर नहीं लगती। फलतः उर्मिला की मर्न व्यथा साकेत में फूट पड़ी।

एक उर्मिला ही क्यों ? गुप्तजी ने अपनी मर्मस्पर्शिनी कला के माध्यम से कैकेयी जैसी चिरतिरस्कृत नारी के चरित्र को भी अतीन करुणा, ममता और स्नेहशीलता दी है कि उसके प्रति समाज के हृदय में जो युगों-युगों से घृणा

और तिरस्कार का कलुश भाव प्रतिष्ठित हो चुका था, वह अनायास ही घुल गया—

थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई कुछ कह सके, कहें, क्यों चूके।
छीने न मातृपद किन्तु भरत का न मुझ से,
हे राम दुहाई करुं और क्या तुझ से।
कहते आते थे यही सभी नर देही,
माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।
अब कहें सभी यह हाय विरुद्ध विधाता।
है पुत्र पुत्रही रहे कुमाता माता।
बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा मृदुलगात्र ही देखा।
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में थी एक अभागी रानी।

आदि पंक्तियों को पढ़ते-पढ़ते कैकेयी के अनुताप से सहृदय पाठक का हृदय द्रवित हो उठता है और वह उसके उस महा अपराध को भी भूलकर कैकेयी के प्रति सहानुभूतिशील हो उठा है। इस प्रकार गुप्त जी ने दिखाया है कि क्षणिक परिस्थितिवश किसी से कोई भूल भले ही हो जाय, पर अन्त में तो नारी का रूप महनीय ही है। वे किसी भी नारी को समाज के द्वारा चिर अपमानित नहीं देख सकते—

सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पै कहत
न जाना।

जिन परिताप द्रवे नवनाता, पर दुख द्रवै सो सन्त पुनीता ।।

के अनुसार कवि का हृदय नारी मात्र के परिताप से द्रवित हो उठता है। इसी लिए वह उनके आंसू पोंछने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहता।

सकेत में उर्मिला और कैकेयी के चरित्र को निखारने के पश्चात् कवि ने समाज के द्वारा उपेक्षित एक अन्य नारी यशोधरा को अपने हृदय की करुणा और सहानुभूति से इस प्रकार जीवन शक्ति प्रदान की कि वह अपने विश्वबदित पतिदेवत-भगवान बुद्ध-के समान ही गुण-गौरव मण्डित होकर हमारी असीम श्रद्धा और प्रीति की भाजन बन गई :-

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती है रण में-
क्षेत्र धर्म के नाते।
सखि वे मुझ से कहकर जाते।

जैसी पंक्तियों के द्वारा केवल यशोधरा ही नहीं, प्रत्युत समग्र नारी जाति का मस्तक ऊँचा हो उठा है। जो बुद्ध बार यशोधरा को धोखे में छोड़कर घर से भाग निकले थे, जब वे यह कहते हैं कि

माना तब दुर्बल था तुमको, मैं तज गया निदान,
किन्तु शुभे परिग्राम भला ही हुआ सुधा-संधान
यदि मैंने निर्दयता की तो, अमा करो प्रिय जान।
मैत्री करुण पूर्ण आज मैं, शुद्ध-बुद्ध भगवान।

तो ऐसा लगता है कि बुद्ध के रूप में सम्पूर्ण विश्व के मानव नारी जाति के प्रति किये गये अपने कठोर व्यवहार के कारण अनुत्पन्न है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साकेत और यशोधरा में नारी-भावना का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। साकेत की नारियां अपने पति की अनुवर्तिनी, विरहिणी या पश्चाताप की प्रतिमूर्ति ही हैं। पर यशोधरा सर्वात्मान पतिव्रता होकर भी अत्यन्त स्वाभिमानिनी है। उसका स्वाभिमान ऐसा अडिग है कि भयंकर से भयंकर विरह वेदना के बवंडर भी उसके पांव नहीं उखाड़ पाते। यहाँ तक कि बुद्ध के राजधानी में चले आने पर भी उसका स्वाभिमान उसे स्वयं चलकर उन के पास नहीं पहुंचने देता-

बाधा तो यही है मुझे बाधा नहीं कोई भी।
विघ्न भी यही है जहाँ जाने से जगत में
कोई रोक नहीं सकता है-धम्म से
फिर भी जहाँ मैं आह इच्छा रहते हुए,
जाने नहीं पाती। यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठी रहती है ? छान डालती धरित्री को।
सिहनी सी काननों में योगिनी सी शैलों में,
शफरी सी जल में विहंगिनी सी व्योम में।
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि साकेत की अपेक्षा यशोधरा का नारीत्व भाव अधिक सक्षम, सशक्त और तेजस्वी है।

नारी के इस तेजोदीप्त रूप की चरम परिणति द्वापर में हुई है। द्वापर की विधृता का रूप इतना देदीप्यमान और भास्कर है कि उसमें पुरुषों का पौरुष मानों पतंग बनकर भस्मसात् होता जा रहा है। विधृता के पति ने बस इतना ही तो किया था कि उसे अपनी सहेलियों के साथ श्रीकृष्ण के पास जाने नहीं दिया। बस इतनी सी बात पर वह अड़ गई और अपने अधिकार की मांग करने लगी-

अधिकारों के दुरुपयोग का कौन कहां अधिकारों
?

कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्धांगिनी तुम्हारी?

मैं पुरुषार्थ जा रही थी तुम पाप देख बैठे हो।

और आप अवसर के वर को शाप लेख बैठे हो।

इतना ही नहीं वह सिंहनी की भांति गरजती हुई जब अपने पति से यह कहती है कि हम और तुम दोनों यज्ञाग्नि की साक्षी बनाकर पति और पत्नी के मैत्रित्व सूत्र में आबद्ध हुए थे, किन्तु तुमने उस मैत्रित्व के तार को पल भर में ही झटक कर तोड़ डाला है। क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं कि मैं मुट्ठीभर भी किसी को कुछ दे सकूँ ? क्या तुमने मेरा हाथ इसलिए पकड़ा था कि तुम उसे झकझोर डालो? तो ऐसा लगता है कि विधुता से बढ़कर सशक्त नारी हिन्दी काव्य साहित्य में अन्यत्र प्रकट न हो पाए।

इतना ही नहीं आज का मानव अथवा आज का ही क्यों प्रत्येक युग का मानव नारी के प्रति सदा शंकाशील रहा है। उसने तो यहाँ तक पाप देखा है नारी के चरित्र में, कि वह उसे अपने सगे पिता, पुत्र और भाई के साथ भी अकेले रहते नहीं देख सकता। विधुता मनुष्य की इसी दूषित प्रवृत्ति पर ऐसी करारी चोट कर रही है कि एक बार तो उस चोट से प्रत्येक दूषित मन वाले व्यक्ति का अन्तर्बाह्य तिलमिला उठता है—

हाय ! बधू ने क्या वर विषयक, एक वासना पाई ?

नहीं और कोई क्या उसका, पूज्य पिता या भाई ?

नर के बांटे क्या नारी की, नग्नमूर्ति ही आई ?

मां, बेटी या बहिन हाय ! क्या, संग नहीं वह लाई ?

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि द्वापर आकर गुप्त जी की नारी भावना मात्र पल्लित और मातृत्व के दायरे से उन्मुक्त हो गई है। एक विधुता ही क्यों द्वापर में राधा, गोपियां और कुब्जा भी है, पर वे न तो पत्नीत्व के बिगड़ से ही जकड़ी हुई है और न

मातृत्व की ममता के कच्चे तार से ही आबद्ध। ये सब तो प्रेम के पारावार में स्वच्छन्दतापूर्वक अग्रसर होने वाली तरंगायित कल्लोलनियां हैं। विधुता का यह तेजीदीप्त रूप मात्र नारी के उस रूप का प्रतीक मात्र है जिसे कवि की चेतना सारे समाज में व्याप्त देखना चाहती है और सम्भवतः ऐसे रूप को अंकित करने के लिए ही द्वापर की सृष्टि हुई है।

द्वापर में स्वकीया और परकीया की भेद बुद्धि अपने आप समाहित हो गई है। नारी नारी है, उसके सिवा और कुछ नहीं। तभी तो विधुता में यह कहने का साहस है कि—

श्याम सलौने पर यदि सचमुच मेरा मन ललचाया।

**तो फिर क्या होता इसमें कहीं रहे यह काया।
अथवा तुम्हें दोष क्या, युग ही यह 'द्वापर' संसय का,
परहित अपना ध्यान हमें है, तो कारण क्या भय का।**

इतना ही नहीं एक स्थान पर तो वह यहां तक कहती है कि पुरुष तो सदा नारी के प्रति अविश्वासी ही रहा है और पुरुष, उसके तो सौ अपराध भी यहां क्षमा हो जाते हैं, क्योंकि वह घर का मालिक जो ठहरा।

द्वापर की नारी में यह साहस है कि वह अन्याय और अत्याचार सहन करने की अपेक्षा उसके प्रतिरोध में अपने आप को बलिदान कर देना श्रेयस्कर समझती है—

इस अन्याय समक्ष, मरूं मैं, कभी नहीं झुक सकती।

यह तो हुई द्वापर की एक ऐसी नारी जो युग—युग के अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध सारी नारी जाति की क्रान्ति का सन्देश दे रही है और वह कह रही है कि अनन्त काल में धर्षिता और अबला कहकर पुकारी जाने वाली नारी का

उद्धार तब तक नहीं हो सकता जब तक कि वह करो या मरो के महामन्त्र का अपना कर इस उत्पीड़न को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए कटिबद्ध नहीं हो जाती।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि द्वापर में नारी-भावना की धारा प्रचंड और उद्दाम वेगवती बनकर ही प्रवाहित हो रही है। वस्तुतः द्वापर में नारी-भावना नाना रूपों में अभिव्यक्त हुई है। विधृता विद्रोहिणी है तो कब्जा का नखशिख प्रेम और सौन्दर्य के सरस सागर में हिलोरे ले रहा है। सच बात तो यह कि प्रणय और विद्रोह इन दोनों प्रतीपी भाव-धाराओं का जैसा अपूर्व मिलन द्वापर की नारी भाना में हुआ है, वैसा गुप्त जी के किसी अन्य काव्य में नहीं। कुब्जा के माध्यम से श्रृंगार और प्रणय के जैसे मांसल चित्र द्वापर में उभरे हैं, राष्ट्रकवि की तूलिका में जैसे चित्र अन्यत्र कहीं नहीं उभार पाई। कुब्जा पहली झलक में ही श्रीकृष्ण की अनुपम सौन्दर्य-निधि की चेरी बन जाती है। जब उसने –

कसी क्षीण कटि पीन वक्ष था कचकन्धरा ढंके थे,

स्वर्ण-वर्ण के उत्तरीय में चित्रित रत्न टके थे।

दुगुने से दो भुज विशाल थे पार्श्व छीलते छीलते।

गंड द्युति-मंडल मन्डित, श्रुति-कुण्डल थे हिलते।

ऐसे दिव्य रूप की सर्वप्रथम झलक पाई तो उसका मन अपने वश में न रहे पाया—

चिकबुक देख फिर चरण चूमते, चला चित्त चिर

चेरा।

इस प्रकार वह सदा के लिए अपने हृदय से हाथ धो बैठी। इसके बाद श्रीकृष्ण ने उसकी टुड्डी पकड़ कर और उसके पैरों को अपने पैरों के दबाकर ऊपर उठा लिया तब तो उसका रोम-रोम आनन्दविभोर होकर मानो सिहर उठा। उसकी नस-नस में एक बिजली-सी दोड़ गई।

चमक गई बिजली सी भीतर नस-नस चौक पड़ी थी।

चिबुक हिलाकर छोड़ मुझे मायावी मुस्काया।

और अब तो कुब्जा का अंग-प्रत्यंग मानों इस मिलन-माधुरी के अमित आनन्द हृदय में कलोलें कर रहा था। कुब्जा को सारी सृष्टि ही आनन्दमय और रस विभोर हो रही थी, इस मिलन-सुख का जैसा चित्र द्वापर में अंकित होता है, वह वस्तुतः सहृदय संवेद्य ही है। द्वापर की यह नारी-भावना इतनी विशाल और उदार है कि सोतिया डाह की दाहक कृतियां इसकी शीतलता से स्वतः शान्त हो गई है।

ब्रजरानी के विजयी वर के धरे चरण ही चेरी।

यहाँ कुब्जा के रूप में प्रणय भाव की अनन्य उपासिका संयोग सुख की मधुर स्मृतियों में मग्न नारी का चित्र अंकित करने के पश्चात् कवि ने वियोग –विधुरा नारी हृदय की थाह भी ली है। कुब्जा स्वयं उस वियोग व्यथा का अनुभव कर रही है, किन्तु उसकी वियोग भावना भी सिसकियों से भरी हुई नहीं है। उसमें तो –

वह शीश है मैं निशि होऊँ या, वह तमिस्त्र मैं

तरा।

जैसी स्वर्णिम मधुर भावनाएँ ही सर्वत्र ओत-प्रोत हैं। उधर गोपियां भी इस वियोग व्यथा को रोते झींकते नहीं, प्रत्युत हंस-खेल कर सहने को तत्पर दिखाई देती है। इनके इस विचार में पर्याप्त हृदयग्राहिता है कि यदि आनन्द के वे दिन हमने देखे थे तो दुख के ये दिन देखने के लिए कोई दूसरा थोड़े ही आएगा, वह भी तो हमें ही भोगना पड़ेगा—

यह विष भला कौन भोगेगा, वह रस हमने भोगा।

इसके साथ ही वे यह जानती भी है कि प्रीति की लता को सरस और हरा-भरा बनाए रखने के लिए दो आँखों का पानी परमावश्यक है—

एक प्रीति की लता चाहती दो आँखों का पानी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वापर की कुब्जा राधा और गोपियां नारी के माधुर्य भाव अथवा प्रणयिनी रूप का प्रतिनिधित्व करती है। वे आरम्भ से अन्त तक प्रेस रस में पगी हुई है। संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं में वे अपने प्रिय की अनन्य उपासिकाएं हैं। प्रणय श्रृंगार और सौन्दर्य की ऐसी उदात्त और सात्विक अभिव्यक्ति गुप्त जी की कृतियों में अन्यत्र सम्भवतः कहीं उपलब्ध नहीं होती। विद्रोहिणी और प्रणयिनी नारी के इन दोनों रूपों की अवतारणा के साथ कवि ने अपनी इस कृति में उसके ममतामयी मां के रूप में को चित्रित करने में भी कोई कसर नहीं उठा रखी है। विशेषतः पुत्र-वियोगिनी मां की करुण भावनाएं तो यहां अत्यन्त हृदयद्रावक रूप में मुखरित हुई हैं।

यों तो याशोदा भी मां हैं, पर वह सब प्रकार से सुखी मां का प्रतिनिधित्व करती है। अतः उसमें दूसरों के हृदयों को द्रवित करने की वह क्षमता नहीं, जो दुखियारी देवकी में है। देवकी के रूप में एक ऐसी मां हमारे सम्मुख उपस्थित होती है, जिसका हृदय दैन्य और विक्षोभ, आतंक और उत्पीड़न, निराशा के अन्धकार और भविष्य की सुनहरी किरण के दिव्य आलोक में धर-छांह से एक ही साथ घिरा हुआ है। हम यों भी कह सकते हैं कि देवकी के रूप में वन्दनी भारत मां की झांकी ही इस काव्य में प्रस्तुत हुई है। जैसे देवकी का वर्तमान दुख दैन्य से ग्रस्त है पर भविष्यत उज्ज्वल आशा से देदीप्यमान दिखाई दे रहा है। ठीक वही स्थिति उस समय भारत जननी की भी दिखायी दे रही थी।

देवकी के आत्मनिवेदन में उसके शोक का आवेग इस प्रकार शत सहस्रमुखी धाराओं में प्रवाहित हुआ है कि उसका एक-एक शोकोच्छ्वास, कस जैसे कोटि-कोटि कठोर पर्वतों को उखाड़ फेंकने की शक्ति अपने में समाहित किये हुए हैं।

द्वापर की दोनों नारियां-विधृता और देवकी दुखियारी है। किन्तु दूसरी ओर उनका दुखावेग इतना प्रबल और प्रचंड है कि सामाजिक और राजनैतिक उत्पीड़न की प्रचंड चट्टानें भी उनके सामने आते ही चकनाचूर होती दिखाई देती हैं। देवकी जब भगवान से यह पूछती है कि क्या ऐसे नृशंस लोगों की ही है भगवान तेरा प्रतिनिधि समझता है और क्या उसी के हाथ में तेरी सत्ता है, यदि यही सत्य है तो तुझे और तेरे प्रतिनिधि दोनों ही को धिक्कार है—

बोल सके तो बता इसी ने तेरी सत्ता पाई ।

सुन पाए तो इस नृशंस की सुन तू दुरित दुहाई ।

**धिकृ निरीह निगुणता तेरी, अरी, अरे थधक उठ
थक हो ।**

ये ऐसे शब्द हैं, जो सारे समाज और राष्ट्र को प्रज्ज्वलित हो उठने के लिए बात की बात में प्रेरित कर सकते हैं।

ऐसी तेजस्विनी है द्वापर की नारी-भावना और साथ ही उतनी ही मधुर, ममतामयी और रसाप्लावित भी।

संदर्भ

1. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त: गुप्त और साकेत-प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित, पृ. 41
2. साकेत का नवमसर्ग-डॉ. देशराजसिंह भाटी, पृ. 89
3. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य-वीरभारत तलवार, पृ. 119

4. गुप्त जी और उनका द्वापर—प्रो. भवानी शंकर त्रिवेदी, पृ. 145
5. मैथिलीशरण गुप्त की काव्य भाषा—डॉ. रमेश प्रसाद सिन्हा, पृ. 46
6. मैथिलीशरण गुप्त—डॉ. प्रभाकर शुक्ल, पृ. 82

Copyright © 2017 Dr. R.P Verma. This is an open access refereed article distributed under the Creative Common Attribution License which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.